

सतत विकास और भारतीय परम्पराएँ : एक वैकल्पिक दृष्टिकोण

डॉ. नरेन्द्र कुमार

सह आचार्य (राजनीति विज्ञान)

राजकीय डूंगर महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)

डॉ. सिद्धार्थ राव

सहायक आचार्य (राजनीति विज्ञान)

राजकीय नेहरू मेमोरियल महाविद्यालय, हनुमानगढ़ (राज.)

सारांश

सतत विकास (Sustainable Development) आज वैश्विक स्तर पर मानव-जीवन, पर्यावरण, अर्थव्यवस्था और सामाजिक संरचना के पुनर्संतुलन का प्रमुख उद्देश्य बन चुका है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा प्रतिपादित सतत विकास के लक्ष्य (SDGs) आधुनिक विश्व को दीर्घकालीन स्थिरता की ओर अग्रसर करते हैं किन्तु भारतीय परम्पराओं में निहित प्रकृति-सम्मत जीवनदृष्टि, संतुलित उपभोग, अहिंसा, कर्तव्यबोध, परिवार-केंद्रित सामाजिक संरचना और लोकज्ञान में सदियों पूर्व से ही सततता के सिद्धान्त विद्यमान रहे हैं। वैदिक, उपनिषद, बौद्ध, जैन, गीता तथा ग्राम-परम्पराओं में प्रकृति को 'माता' एवं मानव को उसका अंग मानने की भावना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। यह शोध-पत्र भारतीय परम्पराओं में मौजूद सतत विकास के वैचारिक और व्यवहारिक तत्वों की पहचान करते हुए यह विश्लेषण करता है कि किस प्रकार भारतीय ज्ञान-परम्परा आधुनिक सतत विकास मॉडल को एक वैकल्पिक, अधिक मानवीय और नैतिक आधार प्रदान कर सकती है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि भारतीय परम्पराएँ केवल सांस्कृतिक धरोहर नहीं बल्कि भविष्य की पर्यावरणीय एवं सामाजिक चुनौतियों का समाधान देने वाली जीवंत और प्रासंगिक दृष्टि हैं।

मुख्य शब्द: सतत विकास, भारतीय परम्पराएँ, लोक-ज्ञान, प्रकृति-सम्मत जीवन, वैकल्पिक दृष्टिकोण, वैदिक/उपनिषद ज्ञान, पर्यावरणीय नैतिकता, सांस्कृतिक स्थिरता, मानव-प्रकृति सम्बन्ध,

प्रस्तावना

वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में सतत विकास (Sustainable Development) मानव जाति के अस्तित्व प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण और सामाजिक-आर्थिक संतुलन के लिए सबसे महत्वपूर्ण विमर्श के रूप में उभरकर सामने आया है। विज्ञान एवं तकनीक के तीव्र विकास, औद्योगिकीकरण, जनसंख्या वृद्धि और अनियंत्रित उपभोग ने प्रकृति तथा समाज दोनों पर गहरा दबाव डाला है। जलवायु परिवर्तन, जैव-विविधता का क्षय, जल संकट, भूमि क्षरण और प्रदूषण जैसी समस्याएँ यह स्पष्ट करती हैं कि वर्तमान विकास मॉडल में गंभीर सीमाएँ हैं, क्योंकि यह मॉडल प्रकृति को केवल संसाधन मानकर दोहनवादी दृष्टि अपनाता है। ऐसी स्थिति में मानवता एक ऐसे मार्ग की खोज में है जो विकास और संरक्षण के बीच संतुलन स्थापित कर सके तथा भविष्य की पीढ़ियों के लिए सुरक्षित, स्वस्थ और स्थिर वातावरण सुनिश्चित कर सके। इसी संदर्भ में सतत विकास की अवधारणा महत्वपूर्ण स्थान रखती है परंतु यह समझना भी

आवश्यक है कि सततता के कई सिद्धान्त भारतीय परम्पराओं में पहले से गहरे रूप में मौजूद रहे हैं।

भारतीय ज्ञान-परम्परा सदैव से प्रकृति-सम्मत जीवन शैली, संतुलित उपभोग, सामुदायिक उत्तरदायित्व, अहिंसा, करुणा और लोक-कल्याण को विकास का आधार मानती रही है। वैदिक साहित्य में प्रकृति को देवी-देवताओं का स्वरूप माना गया है और मानव को उसके साथ सामंजस्यपूर्ण संबंध स्थापित करने का आदेश दिया गया है। उपनिषदों में सम्पूर्ण सृष्टि को एकात्म दृष्टि से देखा गया है- जहाँ मानव, जीव-जंतु, पेड़-पौधे और पंचतत्त्व परस्पर निर्भर और अविभाज्य हैं। बौद्ध एवं जैन परम्पराओं में 'अहिंसा', 'अपरिग्रह' और 'मध्यम मार्ग' जैसे सिद्धान्त न्यूनतम उपभोग, संतुलन और करुणा पर आधारित सतत विकास की आधारशिला प्रस्तुत करते हैं। गीता में कर्तव्य, संतुलन, आत्मसंयम और लोक-संग्रह की जो अवधारणाएँ मिलती हैं वे आधुनिक सतत विकास लक्ष्यों (कठे) से कहीं अधिक व्यापक मानवीय दृष्टि प्रदान करती हैं। ग्रामीण भारत की पारंपरिक जीवन शैली जैसे जल संरक्षण, सामुदायिक कुएँ, वर्षा-जल संचयन, जैविक खेती, पशुपालन, पुनर्चक्रण और

संसाधनों का सामूहिक उपयोग-सतत विकास के व्यावहारिक उदाहरण हैं जिन्हें सदियों से अपनाया जा रहा था।

इस प्रकार भारतीय परम्पराएँ मात्र सांस्कृतिक धरोहर नहीं बल्कि पर्यावरणीय, सामाजिक और आर्थिक संतुलन की वह समग्र दृष्टि हैं जो आधुनिक विष्व के सतत विकास महडल को मौलिक रूप से समृद्ध कर सकती हैं। आधुनिक विकास की चुनौतियों के बीच भारतीय परम्पराओं का पुनर्पाठ एक ऐसा वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जो मनुष्य को प्रकृति के केंद्र में न रखकर उसके साथ सह-अस्तित्व की भावना पर जोर देता है। यह शोध-पत्र इसी अंतर्संबंध का विश्लेषण करता है कि भारतीय परम्पराओं के मूलभूत सिद्धान्त किस प्रकार सतत विकास के लिए एक अधिक मानवीय, नैतिक, सांस्कृतिक और दीर्घकालिक समाधान बन सकते हैं।

सतत विकास : अवधारणा और सैद्धांतिक आधार

सतत विकास (Sustainable Development) का अर्थ केवल आर्थिक प्रगति नहीं बल्कि ऐसी समग्र उन्नति है जिसमें वर्तमान पीढ़ी की आवश्यकताओं की पूर्ति इस प्रकार हो कि भविष्य की पीढ़ियों की आवश्यकताओं से समझौता न करना पड़े। १९८७ में ब्रुंडलैंड आयोग (World Commission on Environment and Development) ने 'Our Common Future' रिपोर्ट में सतत विकास को एक वैश्विक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया जिसने यह रेखांकित किया कि विकास का उद्देश्य मानव-कल्याण है परन्तु इसके लिए प्रकृति, संसाधनों और पर्यावरण के संरक्षण को अनिवार्य रूप से साथ जोड़ा जाना चाहिए। इस रिपोर्ट के बाद सतत विकास एक व्यापक दार्शनिक, आर्थिक और पर्यावरणीय विमर्श के रूप में उभरा, जिसने आधुनिक विकास की दोहनवादी प्रवृत्ति पर गंभीर प्रश्न उठाए और विश्व समुदाय को एक संतुलित विकास महडल की ओर प्रेरित किया।

सतत विकास का सैद्धांतिक आधार मुख्यतः तीन स्तंभों पर निर्मित माना जाता है-पर्यावरणीय सततता, आर्थिक सततता, और सामाजिक सततता। पर्यावरणीय सततता का तात्पर्य प्राकृतिक संसाधनों जैसे जल, वन, भूमि, खनिजों और जैव विविधता के संरक्षण से है ताकि प्राकृतिक प्रणालियों का संतुलन न बिगड़े। आर्थिक सततता का आशय ऐसी आर्थिक गतिविधियों से है जो रोजगार, उत्पादन, संसाधनों के न्यायोचित वितरण और दीर्घकालिक आर्थिक स्थिरता को सुनिश्चित कर सकें। सामाजिक सततता समाज में समानता, न्याय, शिक्षा, स्वास्थ्य, सुरक्षा और सांस्कृतिक मूल्यों के संरक्षण पर बल देती है। इन तीनों स्तंभों का समन्वित विकास ही वास्तविक सतत विकास कहलाता है, क्योंकि कोई भी स्तंभ कमजोर होने पर

समाज की स्थिरता और जीवन-गुणवत्ता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

२१वीं सदी में संयुक्त राष्ट्र संघ (UN) ने सतत विकास की अवधारणा को ओर अधिक संरचित रूप में प्रस्तुत करते हुए २०१५ में सतत विकास लक्ष्य (Sustainable Development Goals – SDGs) निर्धारित किए। कुल १७ लक्ष्यों में गरीबी उन्मूलन, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, लैंगिक समानता, स्वच्छ जल, जलवायु कार्रवाई, स्थायी उपभोग, समुद्री एवं स्थलीय पारिस्थितिक तंत्र का संरक्षण, वैश्विक साझेदारी और आर्थिक विकास जैसे बिंदु शामिल हैं।^१ क्ले ने स्पष्ट कर दिया कि दुनिया के स्तर पर सतत विकास केवल पर्यावरण संरक्षण तक सीमित नहीं है बल्कि यह सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक मूल्यों, शासन प्रणाली और आर्थिक नीतियों के समन्वय की प्रक्रिया है।

सतत विकास का सैद्धांतिक आधार उन आलोचनाओं पर भी आधारित है जिनमें आधुनिक औद्योगिक विकास महडल की सीमाओं को इंगित किया गया है। वर्तमान महडल अनियंत्रित औद्योगिकीकरण, उपभोक्तावाद और संसाधनों के तीव्र दोहन पर आधारित है जिससे पारिस्थितिक संतुलन बिगड़ा है और प्राकृतिक संसाधन संकट की स्थिति में पहुँच गए हैं। इस संदर्भ में पर्यावरणवादी विद्वानों- जैसे हर्मन डेली (Herman Daly), रैचल कार्सन (Rachel Carson) और अमर्त्य सेन ने विकास की अवधारणा में 'न्यूनतम आवश्यक उपभोग', 'न्यायपूर्ण वितरण', 'समता', और 'मानवीय विकास' को शामिल करने की आवश्यकता पर बल दिया। इससे सतत विकास मात्र आर्थिक सिद्धान्त न होकर नैतिक, सामाजिक और पर्यावरणीय दृष्टि से भी एक समग्र अवधारणा बन गया।

सतत विकास एक ऐसा बहुआयामी ढाँचा है जो मानव-जीवन के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और पर्यावरणीय आयामों को एक साथ जोड़कर दीर्घकालिक प्रगति सुनिश्चित करता है। यह अवधारणा हमें यह सिखाती है कि पृथ्वी सीमित संसाधनों वाला ग्रह है और स्थिर भविष्य के लिए विकास की दिशा वही उचित है जिसमें संतुलित उपयोग, संरक्षण, न्यायसंगत वितरण और भविष्य के प्रति उत्तरदायित्व की भावना सम्मिलित हो। सतत विकास इस प्रकार आधुनिक विश्व को विकास के नए मार्गदर्शक सिद्धान्त प्रदान करता है जिसमें समृद्धि और पर्यावरण-संरक्षण दोनों का समन्वित समाधान संभव है।

भारतीय परम्पराएँ : स्वरूप एवं मूल दर्शन

भारतीय परम्पराएँ अत्यंत प्राचीन, बहुवर्णी और अनुभवजन्य ज्ञान पर आधारित जीवन-दृष्टि को अभिव्यक्त

करती हैं। भारतीय संस्कृति में परम्परा का अर्थ केवल आचार-विचार या अनुष्ठानों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह एक गहन दार्शनिक दृष्टि है जो मानव, प्रकृति और ब्रह्मांड के मध्य अंतर्संबंधों को समझने पर बल देती है। भारतीय परम्परा का मूल आधार 'ऋत' और 'धर्म' की अवधारणाओं में निहित है-जहाँ ऋत का अर्थ प्राकृतिक व्यवस्था, संतुलन और सामंजस्य है, जबकि धर्म का अर्थ कर्तव्य, नैतिकता, अहिंसा और लोककल्याण है। यह दृष्टि मानव को प्रकृति का स्वामी नहीं, बल्कि उसका अंग और संरक्षक मानती है। इसी कारण भारतीय परम्पराएँ सतत विकास के सिद्धान्तों के साथ स्वाभाविक रूप से मेल खाती हैं, क्योंकि इनमें संसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग, संतुलन, संयम और समष्टि-हित को सर्वोपरि स्थान दिया गया है।

वैदिक साहित्य में प्रकृति को पवित्र सत्ता के रूप में देखा गया है। 'भूमि सूक्त', 'नदी स्तुति' और 'अग्नि-इंद्र-वायु' सम्बन्धी मंत्रों में प्रकृति के प्रति सम्मान, कृतज्ञता और संरक्षण का स्पष्ट संदेश मिलता है। उपनिषदों में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना सम्पूर्ण सृष्टि को एक परिवार मानने का सिद्धान्त प्रस्तुत करती है जो आधुनिक वैश्विक सतत विकास की सोच से कहीं अधिक गहरी मानवीय एकता को रेखांकित करता है। 'ईशोपनिषद्' में प्रकृति के प्रति संतुलित उपभोग तथा सीमित संसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग करने का स्पष्ट निर्देश मिलता है- "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा" अर्थात् त्याग और संयम के साथ उपभोग करना। यह दार्शनिक दृष्टि आज के उपभोक्तावादी समाज में सततता का महत्वपूर्ण दिशा-निर्देश प्रदान करती है।

बौद्ध और जैन परम्पराएँ भी भारतीय सततता दृष्टि को ओर सशक्त बनाती हैं। बौद्ध धर्म का 'मध्यम मार्ग' अत्यधिक उपभोग और अत्यधिक त्याग दोनों अतियों से बचकर संतुलित जीवन की शिक्षा देता है। 'अहिंसा' और 'करुणा' जीव-जंतु और पर्यावरण के प्रति समान संवेदनशीलता का आधार बनाती हैं। जैन दर्शन में 'अपरिग्रह' (अनावश्यक संचय से बचना) और 'अनेकांतवाद' (सत्य के बहुआयामी स्वरूप को स्वीकारना) ऐसी शिक्षाएँ हैं जो मानव-जीवन में संसाधनों और विचारों दोनों में संतुलन स्थापित करती हैं। ये सिद्धान्त आज के पर्यावरणीय संकट और सामाजिक असमानताओं के संदर्भ में अत्यंत उपयोगी और प्रासंगिक प्रतीत होते हैं।

भारतीय ग्राम-परम्पराओं में भी सतत विकास की अनेक व्यवहारिक पद्धतियाँ विद्यमान रही हैं। पारम्परिक जल-संचयन प्रणालियाँ जैसे बावड़ी, जोहड़, कुएँ, तालाब और नाडी; कृषि में जैविक खाद, मिश्रित खेती, फसल-चक्र; पशुपालन आधारित अर्थव्यवस्था; वस्त्र, हस्तशिल्प, मिट्टी के बर्तन, लकड़ी और बाँस

पर आधारित स्थानीय उद्योग ये सभी संसाधनों के संरक्षण और सामुदायिक सहयोग की परम्पराएँ हैं। इनका उद्देश्य केवल उत्पादन बढ़ाना नहीं बल्कि प्रकृति के साथ संतुलन में रहकर जीवन-यापन करना है। 'लोक-परम्पराएँ' जैसे पर्व, व्रत, ऋतु-पूजन, वृक्ष-पूजन और पशु-अभिमान भी पर्यावरण संरक्षण की सामूहिक चेतना को बढ़ाते हैं।

भारतीय परम्पराओं का मूल दर्शन यह मानता है कि विकास की वास्तविक परिभाषा केवल आर्थिक संपन्नता नहीं बल्कि आत्मिक संतुलन, सामाजिक सामंजस्य, पर्यावरणीय संरक्षण और जीवन-मूल्यों की रक्षा है। यह दृष्टि आधुनिक सतत विकास के भौतिकतावादी ढाँचे को एक नैतिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक आधार प्रदान करती है। अतः भारतीय परम्पराएँ न केवल इतिहास की धरोहर हैं बल्कि आधुनिक सतत विकास विमर्श को एक वैकल्पिक, समावेशी और मानव-केन्द्रित मार्गदर्शन भी देती हैं।

सतत विकास में भारतीय परम्पराओं की प्रासंगिकता

भारतीय परम्पराएँ न केवल सांस्कृतिक और धार्मिक पहचान का आधार हैं, बल्कि वे सतत विकास के मूलभूत सिद्धान्तों को सबसे प्राचीन और व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत करती हैं। आधुनिक सतत विकास महडल जहाँ पर्यावरण संरक्षण, सामाजिक न्याय और आर्थिक संतुलन को तीन महत्वपूर्ण स्तंभों के रूप में स्वीकार करता है वहीं भारतीय परम्पराएँ इन तीनों आयामों को हजारों वर्षों से जीवन-व्यवहार में समाहित करती रही हैं। भारतीय दर्शन में प्रकृति को 'माता' तथा जीव-जंतुओं और पौधों को 'जीवात्मा' के समान माना गया है। यह दृष्टि मनुष्य को प्रभुत्वशाली उपभोक्ता नहीं, बल्कि सह-अस्तित्व आधारित संरक्षक की भूमिका प्रदान करती है। परिणामस्वरूप, भारतीय परम्पराएँ स्वाभाविक रूप से सततता की उस नैतिकता को विकसित करती हैं जिसमें संसाधनों का दोहन नहीं उनका संरक्षण और संतुलित उपयोग सर्वोपरि माना जाता है।

प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण की दृष्टि से भारतीय परम्पराएँ अत्यंत वैज्ञानिक और व्यवहारिक रही हैं। गाँवों में तालाब, बावड़ी, जोहड़, नाड़ियाँ और कुएँ जल-संचयन के पारंपरिक साधन थे जिनसे न केवल जल-स्तर सुरक्षित रहता था बल्कि स्थानीय जल-चक्र भी संतुलित रहता था। वर्षा-जल संचयन, मिश्रित फसल प्रणाली, जैविक खेती, पशुधन आधारित कृषि, औषधीय पौधों का संरक्षण ये सभी प्रथाएँ आज आधुनिक सतत विकास की आवश्यकताओं के रूप में पुनर्जीवित की जा रही हैं। भारतीय कृषि परम्पराएँ रासायनिक उर्वरकों और विषाक्त कीटनाशकों से काफी पहले प्रकृति-अनुकूल थीं जिनमें

पर्यावरणीय संतुलन और भूमि की उर्वरता को बनाए रखने पर विशेष जोर दिया जाता था। इस प्रकार, भारतीय परम्पराओं में निहित कृषि ज्ञान आधुनिक किसान-हितैषी और पर्यावरण-संरक्षण आधारित विकास पद्धतियों को आदर्श रूप से निर्देशित करता है।

सामाजिक सततता की दृष्टि से भारतीय परम्पराएँ समुदाय-केन्द्रित जीवन शैली को बढ़ावा देती हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' और 'लोक-संग्रह' जैसे सिद्धान्त सामाजिक समरसता, सहानुभूति और सामुदायिक उत्तरदायित्व को मूल मानते हैं। भारतीय समाज का पारम्परिक ढाँचा परिवार, ग्रामसभा और समुदाय पर आधारित रहा है जहाँ निर्णय सामूहिक हित में लिए जाते थे। यह सामाजिक संरचना समानता, सहयोग और सहभागिता के सिद्धान्तों को बल देती है, जो आधुनिक सामाजिक सततता के महत्वपूर्ण तत्व हैं। लोक-परम्पराओं में वृक्षों, नदियों, पर्वतों, पशुओं और पक्षियों के प्रति आदर का भाव पर्यावरणीय संरक्षण को सांस्कृतिक प्रवृत्ति के रूप में स्थापित कर देता है। उदाहरण के लिए, तुलसी, पीपल, नीम, बरगद तथा नदियों का पूजन केवल धार्मिक क्रिया नहीं बल्कि पर्यावरणीय चेतना का सूक्ष्म रूप है।

आर्थिक सततता के संदर्भ में भी भारतीय परम्पराएँ आत्मनिर्भरता, स्थानीयकरण और संतुलित उपभोग पर बल देती हैं। प्राचीन काल में भारतीय अर्थव्यवस्था कृषि, पशुपालन, हस्तशिल्प और महासागरीय व्यापार पर आधारित थी जिसमें संसाधनों का अत्यधिक संचय या दुरुपयोग हतोत्साहित किया जाता था। गाँधी के 'ट्रस्टीशिप सिद्धान्त', 'स्वावलंबन', 'ग्राम-स्वराज्य' और 'मितव्ययिता' आज भी वैश्विक अर्थव्यवस्था को सततता की नई दिशा दे सकते हैं। भारतीय परम्परा में उपभोग को संयमित रखने और अनावश्यक वस्तुओं का संचय न करने की शिक्षा दी जाती रही है-जो उपभोक्तावादी संस्कृति से उत्पन्न पर्यावरणीय संकट के समाधान का सबसे प्रभावी मार्ग है।

इन सभी पहलुओं से स्पष्ट है कि भारतीय परम्पराएँ सतत विकास के लिए केवल प्रेरणा-स्रोत ही नहीं बल्कि व्यावहारिक मार्गदर्शक भी हैं। आधुनिक विकास-महडल जो संसाधनों की उपलब्धता और उपयोगिता पर आधारित है, भारतीय परम्पराओं की नैतिक, आध्यात्मिक और पर्यावरणीय दृष्टि से समृद्ध होकर अधिक संतुलित, मानवीय और दीर्घकालिक समाधान प्रदान कर सकता है। इसलिए भारतीय परम्पराओं को सतत विकास विमर्श में शामिल करना केवल सांस्कृतिक आवश्यकता नहीं बल्कि वैश्विक भविष्य की आवश्यक शर्त बन चुका है।

भारतीय परम्पराएँ : सतत विकास का एक वैकल्पिक महडल

भारतीय परम्पराएँ सतत विकास को केवल एक नीतिगत ढाँचे या वैश्विक लक्ष्य के रूप में नहीं बल्कि जीवन की मूलभूत दर्शन-दृष्टि के रूप में प्रस्तुत करती हैं। जहाँ आधुनिक सतत विकास महडल विकास के आर्थिक, सामाजिक और पर्यावरणीय पहलुओं को संतुलित करने का प्रयास करता है वहीं भारतीय परम्पराएँ इन तीनों से आगे बढ़कर नैतिकता, आध्यात्मिकता, आत्मसंयम और सामुदायिक उत्तरदायित्व को भी विकास का अभिन्न अंग मानती हैं। भारतीय संस्कृति में विकास की अवधारणा का केंद्र मानव-मूल्य, कर्तव्य, संतुलन और 'अहिंसा' है जिससे स्पष्ट होता है कि भारतीय महडल केवल "टिकाऊ विकास" नहीं बल्कि "सार्थक और समग्र विकास" की ओर संकेत करता है। इस दृष्टिकोण के कारण भारतीय परम्पराएँ आज के समय में एक वैकल्पिक, अधिक टिकाऊ और अधिक मानवीय विकास महडल के रूप में उभरती हैं।

भारतीय परम्पराओं में निहित सबसे महत्वपूर्ण तत्व है-नैतिकता-आधारित विकास। विकास का उद्देश्य केवल भौतिक प्रगति नहीं, बल्कि नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति भी है। गीता का 'लोक-संग्रह' सिद्धान्त बताता है कि व्यक्ति का कर्म समाज-कल्याण से जुड़ा होना चाहिए। गाँधी का 'ट्रस्टीशिप सिद्धान्त' संपत्ति और संसाधनों के संचय पर नहीं बल्कि उनके नैतिक उपयोग पर जोर देता है। यह दृष्टि आधुनिक पूँजीवादी विकास महडल के विपरीत है जो अत्यधिक उपभोग और आर्थिक लाभ को प्राथमिकता देता है। भारतीय दृष्टि में विकास तभी सतत है जब वह नैतिक रूप से न्यायसंगत हो और संसाधनों के समान वितरण को सुनिश्चित करे।

दूसरा महत्वपूर्ण आधार है-परिवार और समुदाय-केन्द्रित सामाजिक संरचना जो आधुनिक विकास की व्यक्तिवादी विचारधारा को संतुलित करती है। भारतीय परम्पराओं में परिवार केवल रक्त-संबंध नहीं बल्कि आर्थिक, भावनात्मक और सामाजिक सुरक्षा का आधार है। समुदाय का अस्तित्व सहयोग, साझेदारी और परस्पर निर्भरता पर चलता है। ग्राम-सभाएँ, जल-प्रबंधन की सामूहिक प्रणालियाँ, सामुदायिक श्रमदान, पर्व-त्योहार, सामूहिक दान और परोपकार ये सभी इस बात के प्रतीक हैं कि समाज तब तक स्थिर नहीं हो सकता जब तक समुदाय मजबूत न हो। आधुनिक सतत विकास का "पदबसनेपअम `वबपमजल" महडल भारतीय परम्पराओं में सदियों से व्यवहार में रहा है।

तीसरा आधार है-कम संसाधनों में जीवन की कला (Minimalism/मितव्ययिता)। भारतीय जीवन-दर्शन अनावश्यक उपभोग का विरोध करता है और संयम एवं संतुलित जीवन को

आदर्श मानता है। उपनिषदों में 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' का संदेश-त्याग और आत्मसंयम के साथ उपभोग-आज के अत्यधिक उपभोक्तावाद के बीच सतत विकास की बेहद आवश्यक दिशा प्रदान करता है। भारतीय परम्पराओं में प्रचलित "कचरा-मुक्त जीवन", "पुनर्चक्रण", "पुनःउपयोग" और "संसाधनों का साझा उपयोग" आधुनिक शून्य-कचरा (Zero Waste) या जलवायु-अनुकूल जीवनशैली के विकसित संस्करण की तरह हैं।

चौथा आधार है-आर्थिक आत्मनिर्भरता और स्थानीयकरण (Localization)। भारतीय परम्परा स्थानीय उत्पादन, स्थानीय बाजार और ग्राम-आधारित अर्थव्यवस्था पर आधारित रही है। इससे न केवल रोजगार का सृजन होता है बल्कि संसाधनों की बर्बादी और परिवहन से होने वाले कार्बन-उत्सर्जन में भी कमी आती है। गाँधी का 'स्वदेशी और स्वावलंबन' सिद्धान्त इस वैकल्पिक मॉडल को ओर अधिक सशक्त बनाता है। आज दुनिया जब वैश्विक आपूर्ति-शृंखलाओं के संकट और पर्यावरणीय तनाव से जूझ रही है तब भारतीय परम्परा का स्थानीय-आधारित आर्थिक मॉडल सबसे अधिक व्यावहारिक प्रतीत होता है।

पाँचवाँ आधार है- सांस्कृतिक सततता और पीढ़ीगत मूल्यों का संरक्षण। सतत विकास केवल संसाधनों का संरक्षण नहीं बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों का भी संरक्षण है। भारतीय परम्पराओं में गुरु-शिष्य परम्परा, लोक-ज्ञान, हस्तशिल्प, कृषि-ज्ञान, आयुर्वेदिक चिकित्सा, योग-ध्यान, परिवारिक मूल्य ये सभी केवल संस्कृति नहीं बल्कि पीढ़ीगत सततता की जीवित प्रक्रियाएँ हैं। आधुनिक विश्व में जहाँ सामाजिक और मानसिक स्वास्थ्य की समस्याएँ बढ़ रही हैं। भारतीय परम्पराओं में निहित संतुलन, धैर्य, समभाव, करुणा और आध्यात्मिक अभ्यास मानव जीवन को अधिक स्थिर एवं स्वस्थ बनाने की क्षमता रखते हैं।

इन सभी दृष्टियों से स्पष्ट है कि भारतीय परम्पराएँ आधुनिक सतत विकास मॉडल के लिए एक वैकल्पिक और समग्र ढाँचा प्रस्तुत करती हैं। यह मॉडल प्रकृति-सम्मत, मानव-केंद्रित, नैतिक और सामाजिक उत्तरदायित्व पर आधारित है जो केवल पर्यावरण संरक्षण तक सीमित नहीं बल्कि जीवन के सभी आयामों को संतुलित कर एक टिकाऊ भविष्य की ओर ले जाता है। अतः भारतीय परम्पराएँ न केवल ऐतिहासिक धरोहर हैं, बल्कि भविष्य के सतत विकास का बौद्धिक, सांस्कृतिक और व्यवहारिक मार्गदर्शन भी करती हैं।

आधुनिक संदर्भ में भारतीय परम्पराओं की चुनौतियाँ

भारतीय परम्पराएँ यद्यपि सतत विकास का एक मजबूत वैकल्पिक आधार प्रदान करती हैं किन्तु आधुनिक संदर्भ में वे अनेक सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और वैचारिक चुनौतियों का सामना कर रही हैं। सबसे प्रमुख चुनौती है- तेजी से बढ़ता हुआ आधुनिकीकरण और उपभोक्तावाद जिसने मानव जीवन को अत्यधिक भौतिकवादी दिशा में मोड़ दिया है। वैश्वीकरण और आधुनिक बाजार-व्यवस्था ने उपभोग को ही विकास का सूचक मान लिया है, जिसके कारण भारतीय परम्पराओं में निहित संयम, संतुलन, मितव्ययिता और पुनर्चक्रण के सिद्धान्त कमजोर होते जा रहे हैं। विज्ञापन, डिजिटल मीडिया और बाजार केंद्रित जीवन-शैली ने नई पीढ़ी को पारम्परिक संरक्षण-आधारित जीवन से दूर कर दिया है। परिणामस्वरूप, सततता के मूल मूल्य-जैसे सीमित उपभोग, प्रकृति के प्रति कर्तव्य, सामुदायिक दायित्व धीरे-धीरे हाशिये पर जाते दिखते हैं।

दूसरी महत्वपूर्ण चुनौती है पारम्परिक ज्ञान प्रणाली का क्षरण। भारतीय समाज में सदियों से विकसित लोक-ज्ञान, कृषि-प्रथाएँ, पशुपालन पद्धतियाँ, जल-संचयन प्रणालियाँ, औषधीय पौधों का ज्ञान और हस्तशिल्प की तकनीकें आधुनिक शिक्षा और तकनीक के प्रभाव में धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही हैं। युवा पीढ़ी रोजगार, तकनीक और बाजार आधारित कौशलों की ओर अधिक आकर्षित हो रही है जबकि पारम्परिक ज्ञान-जो सतत विकास का महत्वपूर्ण आधार हो सकता है-उपेक्षा का शिकार है। यह स्थिति न केवल सांस्कृतिक विरासत को कमजोर करती है बल्कि ग्रामीण-आधारित सतत जीवन-प्रणालियों को भी नष्ट करने का खतरा पैदा करती है।

तीसरी बड़ी चुनौती है-पर्यावरणीय संकट और व्यवहारिक परिवर्तन में कठिनाई। जलवायु परिवर्तन, भूमि क्षरण, बढ़ता प्रदूषण, जैव-विविधता का घटाव और पारिस्थितिकी तंत्र का असंतुलन ऐसे संकट हैं जो तत्काल व्यवहारगत बदलाव की मांग करते हैं। हालांकि भारतीय परम्पराएँ इन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करती हैं लेकिन आधुनिक समाज इन परम्पराओं को अपनाने में अनिच्छुक दिखाई देता है। लोग शहरी जीवन, उपभोक्तावादी संस्कृति, सुविधा-प्रधान तकनीक और त्वरित लाभ के आदी हो चुके हैं इसलिए प्रकृति-सम्मत जीवन-शैली को व्यवहार में लाना कठिन हो गया है। यह विरोधाभास दर्शाता है कि समाधान उपलब्ध होने के बावजूद उसे अपनाने की मानसिक तैयारी समाज में कम है।

चौथी चुनौती है-सांस्कृतिक द्वंद्व और पहचान का संकट। तेजी से बढ़ते वैश्वीकरण ने जीवन-शैली, भोजन, भाषा,

पहनावे, शिक्षा और सामाजिक मूल्यों को गहराई से प्रभावित किया है। युवा पीढ़ी अक्सर पश्चिमी जीवन-शैली को आधुनिकता का पर्याय मानकर अपनाती है जबकि अपनी पारम्परिक ज्ञान-व्यवस्था को पुरातन या अप्रासंगिक समझने लगती है। इससे सांस्कृतिक अस्मिता कमजोर पड़ती है और सामुदायिक जीवन-मूल्यों की जगह व्यक्तिगत प्राथमिकताएँ ले लेती हैं। यह प्रवृत्ति सतत विकास के मूल सिद्धान्तों-सहयोग, साझेदारी, प्रकृति के प्रति दायित्व और सामाजिक उत्तरदायित्व के विपरीत है।

पाँचवीं चुनौती है- नीति निर्माण में भारतीय परम्पराओं की उपेक्षा यद्यपि भारत की अनेक पारम्परिक पद्धतियाँ वैज्ञानिक, पर्यावरण-अनुकूल और सतत विकास के आदर्श उदाहरण हैं, लेकिन आधुनिक नीतियों और विकास योजनाओं में पश्चिमी मॉडल अधिक प्रभावी हैं। जल-प्रबंधन, कृषि सुधार, शहरी नियोजन, कचरा प्रबंधन और ग्रामीण विकास जैसी नीतियों में पारम्परिक प्रणालियों को पर्याप्त स्थान नहीं मिलता। इससे भारतीय मॉडल का संस्थागत रूप कमजोर पड़ता है और वह केवल सांस्कृतिक स्मृति का हिस्सा बनकर रह जाता है।

इन सभी चुनौतियों से स्पष्ट है कि भारतीय परम्पराओं को सतत विकास मॉडल के रूप में पुनर्जीवित करने के लिए केवल सांस्कृतिक संरक्षण पर्याप्त नहीं- बल्कि सामाजिक चेतना, नीति-स्तरीय पहल, शिक्षा में सुधार, और आधुनिक संदर्भ में पारम्परिक ज्ञान का पुनर्पाठ आवश्यक है। यदि इन चुनौतियों का समाधान किया जाए, तो भारतीय परम्पराएँ न केवल भारत के लिए बल्कि पूरे विश्व के लिए एक अधिक संतुलित, नैतिक और पर्यावरण-सम्मत विकास मॉडल के रूप में उभर सकती हैं।

निष्कर्ष

संपूर्ण विश्लेषण से यह स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आता है कि सतत विकास की अवधारणा, जिसे आधुनिक विश्व ने केवल कुछ दशकों पहले स्वीकार किया है भारतीय परम्पराओं में हजारों वर्षों से जीवन-व्यवहार, दर्शन, संस्कृति और सामाजिक संरचना में गहराई से अंतर्निहित रही है। जहाँ वैश्विक सतत विकास मॉडल संसाधनों के विवेकपूर्ण उपयोग, पर्यावरण संरक्षण, सामाजिक समावेशन और आर्थिक संतुलन की बात करता है वहीं भारतीय परम्पराएँ इन सिद्धान्तों को केवल आदर्श के रूप में नहीं बल्कि व्यवहारिक जीवन-शैली के रूप में अपनाती रही हैं। भारतीय ज्ञान-परम्परा मानव और प्रकृति के सह-अस्तित्व, संतुलन, मितव्ययिता आत्मसंयम करुणा, सामुदायिक सहयोग और नैतिक दायित्व पर आधारित

है-जो आधुनिक सतत विकास विमर्श को एक अधिक मानवीय, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि प्रदान करता है।

अध्ययन यह भी दर्शाता है कि भारतीय परम्पराओं में निहित वैकल्पिक सतत विकास मॉडल वर्तमान वैश्विक संकटों-जलवायु परिवर्तन, पर्यावरणीय क्षरण, संसाधनों की कमी, सामाजिक असमानता और मानसिक स्वास्थ्य समस्याओं-का प्रभावी समाधान प्रस्तुत कर सकता है। वैदिक और उपनिषदपरक एकात्मवाद, गीता का कर्तव्य-निष्ठ लोक-संग्रह सिद्धान्त, बौद्ध और जैन परम्परा की अहिंसा तथा अपरिग्रह की शिक्षाएँ और ग्राम-केन्द्रित भारतीय अर्थव्यवस्था की आत्मनिर्भरता ये सभी सतत विकास के ऐसे स्तंभ हैं जिन्हें आधुनिक विश्व अपनाकर अधिक स्थायी और संतुलित भविष्य निर्मित कर सकता है। स्पष्ट है कि भारतीय मॉडल केवल आर्थिक या पर्यावरणीय स्थिरता तक सीमित नहीं है बल्कि मनुष्य के आंतरिक विकास, सामाजिक सामंजस्य और नैतिक उन्नति को भी इसके अनिवार्य अंग के रूप में स्वीकार करता है।

हालांकि यह भी सत्य है कि आधुनिकीकरण, बाजारवाद, उपभोक्तावाद और वैश्वीकरण के दबावों ने भारतीय परम्पराओं के कई मूल्यों को कमजोर किया है। लोक-ज्ञान के क्षरण, पारम्परिक जीवन-शैली के विघटन, नीति-निर्माण में पारम्परिक प्रणालियों की उपेक्षा और सांस्कृतिक पहचान के संकट ने भारतीय सतत विकास मॉडल को चुनौतियों के सामने खड़ा कर दिया है। इन चुनौतियों का समाधान तभी संभव है जब भारतीय समाज, राज्य, शिक्षा प्रणाली और नीति-निर्माता पारम्परिक ज्ञान को आधुनिक वैज्ञानिक पद्धतियों के साथ समन्वित करने का प्रयास करें। स्थानीय संसाधनों, ग्रामीण अर्थव्यवस्था, पारम्परिक जल-प्रबंधन, जैविक कृषि, हस्तशिल्प और सांस्कृतिक मूल्यों का पुनर्संरक्षण सतत विकास की दिशा में महत्वपूर्ण कदम होंगे।

इस शोध से यह भी सिद्ध होता है कि भारतीय परम्पराएँ न केवल भारतीय समाज की पहचान हैं बल्कि वैश्विक समुदाय के लिए भी मूल्यवान आदर्श प्रस्तुत करती हैं। आधुनिक विकास मॉडल, जो अक्सर अधिक उत्पादन, अधिक उपभोग और अधिक लाभ के दायरे में सीमित होता है भारतीय दृष्टिकोण से प्रेरित होकर अधिक नैतिक, अधिक संतुलित और अधिक मानवीय बन सकता है। इसलिए भारतीय परम्पराओं को समझना, संरक्षित करना और नए संदर्भों में पुनर्परिभाषित करना आवश्यक है ताकि वे वर्तमान तथा भविष्य दोनों के सतत विकास में निर्णायक भूमिका निभा सकें।

अंततः यह कहा जा सकता है कि भारतीय परम्पराएँ सतत विकास के लिए केवल एक ऐतिहासिक या सांस्कृतिक संदर्भ नहीं हैं बल्कि एक जीवंत, प्रासंगिक और दूरदर्शी वैकल्पिक मॉडल हैं। यदि आधुनिक विश्व इन परम्पराओं के सिद्धान्तों को आत्मसात कर सके तो विकास की दिशा केवल भौतिक प्रगति तक सीमित न रहकर समग्र, संतुलित और कल्याणकारी बन सकती है-वही लक्ष्य जिसे सतत विकास का वास्तविक अर्थ कहा जा सकता है।

संदर्भ

१. गाडगिल, माधव, एवं रामचंद्र गुहा. इकोलहजी एंड इक्विटी : द यूज एंड अब्यूज अहफ नेचर इन कंटेम्पररी इंडिया. पेंगुइन बुक्स, १९९५.
२. गुप्ता, अनिल के. ग्रासरूट्स इनोवेशन : माइंड्स अह्न द मार्जिन आर नहट मार्जिनल माइंड्स. रैंडम हाउस इंडिया, २०१६.
३. अय्यर, राघवन. द मोरल एंड पहलिटिकल थहट अहफ महात्मा गांधी. अहक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९७३.
४. शर्मा, वीरेन्द्र. "भारतीय ज्ञान-परम्परा में पर्यावरण-चेतना का स्वरूप." भारतीय दर्शन पत्रिका, खंड ३२, अंक २, २०१८, पृ. ४५-५८.
५. जैन, सुधा. "भारतीय परम्परा में प्रकृति-सम्मत जीवन-दृष्टि." पर्यावरण अध्ययन समीक्षा, अवस. १४, दव. १, २०२०, पृ. २२-३४.
६. कौशल, सुनीता. "सतत विकास और भारतीय सांस्कृतिक मूल्य." समाज विज्ञान समीक्षा, खंड २७, २०१६, पृ. १०१-११२.
७. World Commission on Environment and Development. Our Common Future. United Nations, 1987.
८. भारत सरकार, पर्यावरण, वन एवं जलवायु परिवर्तन मंत्रालय. भारत की राष्ट्रीय पर्यावरण नीति रिपोर्ट. नई दिल्ली, २०१६.